तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक ८ : दिसम्बर १९८१

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस

कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

Prakash Trading Company

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram: PEARLMOON

Telephone: 22-4110
22-3323

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष ५ : अंक ८

दिसम्बर १९८१

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

प्रकाशक

जैन भवन

पी - २५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७००००७

सूची

भक्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन २२९

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २३५

जैन कोश साहित्य २४२

जैन धर्म व अहिंसा २५०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या २५५

आ.श्री. कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

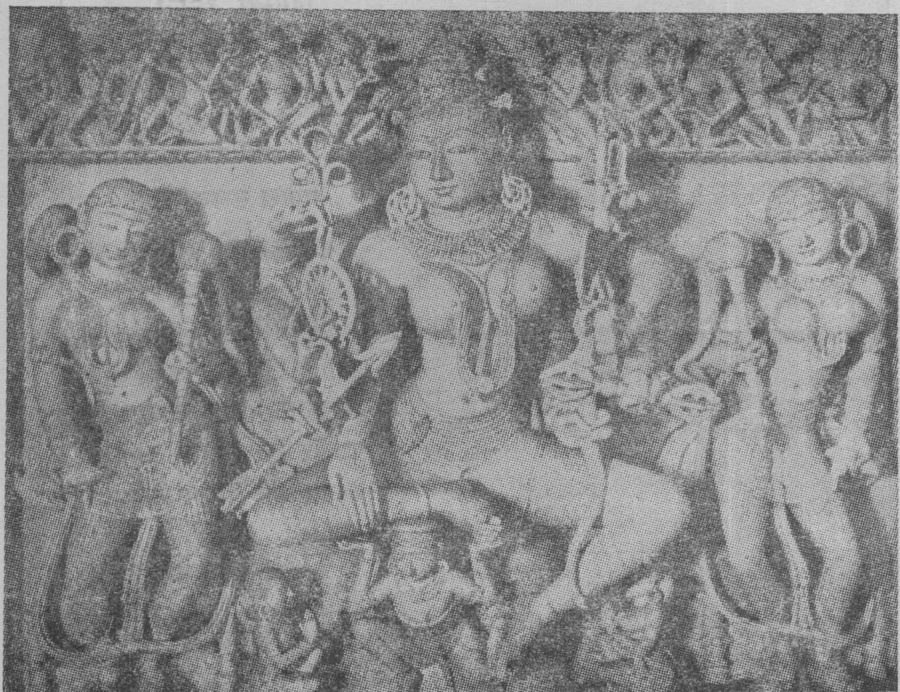

चक्रेश्वरी देवी, दिलवाड़ा, माउन्ट आब

भक्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन

श्रीमती राजकुमारी बेगानी

अध्यात्म प्रधान भारत में भक्ति शब्द से शायद ही कोई अपरिचित हो सकता है। क्योंकि भारत के सभी मूल धर्मों में मुख्य या गौण रूप में यह अवश्य ही पायी जाती है। बल्कि सत्य तो यह है कि साधारणतया हमारी सारी धार्मिक क्रियाओं को भक्ति कहकर ही अभिहित किया जाता है। किन्तु, जब हम भक्ति की व्याख्या करने बैठते हैं तो कई प्रश्न उभर कर सम्मुख आते हैं। भक्ति क्या है? भक्ति किसकी? भक्ति क्यों? भक्ति कैसे?

भक्ति क्या है? इसका सीधा सरल-सा उत्तर होगा अपने इष्टदेव एवं गुरुजनों के प्रति श्रद्धा सहित प्रगाढ़ प्रेम का होना ही भक्ति है। भक्त श्रेष्ठ नारद अपने भक्ति सूत्र में कहते हैं, "सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।" वह प्रेम रूप है, अमृत रूप है, उसे प्राप्तकर जीव मुक्त होता है, सिद्ध होता है, अमृतमय बनता है, तृप्त होता है। भक्ति वह प्रेम है जिससे कोई सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती, बस प्राप्त होता है इष्टदेव। उसमें न विषय है, न वासना। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भक्ति के द्वारा भक्त भगवान में तल्लीन होकर कालान्तर में तद्रूप बन जाता है। इसीलिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने कर्म, ज्ञान और योग से भक्ति को श्रेष्ठ माना है। क्योंकि साध्य भक्त का लक्ष्य है। भक्ति स्वयं ही साध्य और साधन रूपा है।

भक्ति की चर्चा केवल नारद, शाण्डिल्य आदि सूत्रों में ही प्राप्त नहीं होती, ज्ञान मार्ग के समर्थक व्यास सूत्र के भाष्यकार भी स्थान-स्थान पर भक्ति की बात करते हैं। यद्यपि उनका आग्रह शुष्क ज्ञान सूचक अर्थ की ओर रहता है फिर भी जहाँ उपासना की बात आती है वहाँ उन सूत्रों का अर्थ भक्ति की ओर ही इंगित करता है।

साधारणतया ज्ञान और भक्ति को पृथक-पृथक माना गया है पर ऐसा नहीं है। क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। दोनों ही साधक को एक ही स्थान पर ले जाते हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि योग-सूत्र में भगवद् प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का निरुपण करते हुए कहते हैं—"ईश्वर प्रणिधानात् वा।" ईश्वर में प्रणिधान अर्थात् प्रगाढ़ रूप से भक्ति करने से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। योग दर्शन का ईश्वर कोई सृजनहार भाग्य निर्णायक ईश्वर

नहीं है। ईश्वर कौन है? इसे स्पष्ट करते हुए पतंजलि कहते हैं जिसे क्लेश कर्म विपाक स्पर्श नहीं करता वही ईश्वर है। हमारी जैन परम्परा में ईश्वर या भगवान की जो परिभाषा दी जाती है उससे इसका साम्य है। हमलोग भी उसे ही ईश्वर मानते हैं जो कषायों को क्षयकर रागद्वेष को जीत कर वीतराग बन जाते हैं। अतः "ईश्वर प्रणिधानात् वा" सूत्र के अनुसार अर्हत् और सिद्ध भगवान की अनन्य भक्ति में तल्लीन होकर हम भी सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

भक्ति एक ऐसा सीधा-सरल मार्ग है जिस पर चलकर हम अनायास ही भगवद् स्वरूप बन सकते हैं। ज्ञानयोग एवं राजयोग आयास सापेक्ष हैं। पर भक्ति सहज ही प्राप्त की जा सकती है। भक्ति माता की हो सकती है, भक्ति पिता की हो सकती है, भक्ति गुरु की हो सकती है, भक्ति पति की हो सकती है, भक्ति इष्टदेव की हो सकती है। क्योंकि साग्रह अविच्छिन्न स्मृति ही भक्ति है। एक पतिव्रता स्त्री निरन्तर पति की आज्ञानुवर्तिनी बनकर उसी की भक्ति में तल्लीन होकर सामान्य नारियों से ऊपर उठती हुई उन शक्तियों को प्राप्त कर लेती है जिसे अच्छे से अच्छे साधक भी प्राप्त नहीं कर सकते। इतना ही नहीं अपनी उन्हीं विशुद्ध शक्तियों के बल पर वह प्रातः-स्मरणीया बनकर इष्टदेव की ही भाँति पूज्य भी बन जाती है। ध्येय वस्तु का निरन्तर स्मरण ही ध्यान है। माना पतिपरायणा स्त्री पति का जो ध्यान करती है वह रागमूलक है और यह राग मनुष्य मात्र में स्वाभाविक है। भक्ति इस राग को दमन करने को या छोड़ने को नहीं कहती बल्कि इसी लौकिक राग को अलौकिक राग में पर्यवसित करने को कहती है। जब अविच्छिन्न रूप में भगवत स्मृति की अवस्था प्राप्त हो जाती है तब समस्त बन्धन स्वतः ही टूट जाते हैं, छूट जाते हैं। इसीलिए निरन्तर स्मरण को मुक्ति का कारण माना है। यहाँ स्मृति और दर्शन बराबर हैं। क्योंकि स्मरण जब प्रगाढ़ हो जाता है तो वह दर्शन तुल्य ही हो जाता है। यही कारण है कि वैष्णव साहित्यकारों ने विरह को महत्वपूर्ण माना है। वहाँ वह अभाव सूचक नहीं है। 'वि-रह' अर्थात् विशेष रूप से जो दूर है उसके निकट रहना। वैष्णव भक्तों ने विरह के अश्रुजल में भाव सम्मेलन के जिन अपूर्व स्वर्ण-कमलों को विकसित किया है वह विश्व साहित्य में बेजोड़ है। पराभक्ति तद्भाव भावित होकर ही नहीं रहती वह तदाकार कारित भी बना देती है।

भक्ति का मार्ग सहज सरल होने पर भी इसमें दो खतरे हमारे सम्मुख आते हैं। प्रथम है संकीर्णता, द्वितीय क्रिया काण्डों में जकड़ जाना। निम्न स्तर

के अधिकारियों में प्रायः देखा गया है कि अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा दूसरों के इष्ट के प्रति घृणा में पर्यवसित हो जाती है। इस इष्ट-प्रीति के कारण संसार में जितना झगड़ा हुआ उतना राजनीति के कारण भी नहीं हुआ। दूसरा खतरा यह है कि साधक भगवान में अनुराग वृद्धि के लिए जिन साधनों का अवलम्बन लेता है जैसे कि दर्शन, पूजा-पाठ आदि-आदि, वे उस पर इतने हावी हो जाते हैं कि वह लक्ष्य से दूर होकर क्रिया-काण्डों को ही भक्ति का स्वरूप मान बैठता है। तभी तो मीरा कहती है—

पाथर पूजत हरि मिले, तो मै पूजूँ पहाड़।
तुलसी पूजत हरि मिले, तो पूजूँ झाड़ के झाड़॥

कहने का तात्पर्य यह है कि बिना अनन्य प्रेम के भगवान नहीं मिलते। भक्ति का तो मूल ही निष्काम प्रेम है। किन्तु इस प्रेम को घनीभूत करने के लिए आवश्यक हो जाता है ज्ञान। एकमात्र भक्ति मनुष्य को क्रियाकाण्डी बनाती है, दूसरों के इष्टदेव से घृणा करवाती है, परिणामतः क्रोधी बनाती है। अतः भक्ति को उच्च स्तर पर ले जाने के लिए ज्ञान आवश्यक है। केवल ज्ञानाश्रयी शुष्कज्ञानी बनकर नीरस तार्किक बन जाता है तो केवल भक्ति का अनुसरणकारी क्रियाकाण्डी बन जाता है। अतः आवश्यक है दोनों का समन्वय। पक्षी को खुले आकाश में उड़ान भरने को चाहिए दो डैने और हाल रूपी पूँछ। उसी प्रकार मोक्षाभिलाषी को भी चाहिए ज्ञान और भक्ति रूपी दो डैने और योगरूपी पूँछ। जो इनमें सामंजस्य बैठा सकता है वही आनन्द पूर्वक साधना करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भक्ति कोई वाद नहीं है, यह है साध्य और साधन। यही कारण है कि भक्ति को प्रत्येक धर्मावलम्बियों ने अपनाया है। अवश्य ही सम्प्रदाय विशेष में भावना और उद्देश्य में कुछ-कुछ अन्तर रहा है, वह भी मुख्यतः उपासना का।

भक्ति के भी दो भेद हैं। साकार उपासना, निराकार उपासना। साकार उपासक अपने इष्टदेव को सर्वशक्तिशाली मानकर उसी की कृपा से भवसागर पार होने का विश्वास करते हैं, निराकार उपासक आत्मा को ही। वैष्णव सन्तों की भक्ति भी बड़ी विलक्षण है। वे यह जानते हैं कि भगवान का अनन्त ऐश्वर्य है पर साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि उस ऐश्वर्य का बिन्दु मात्र भी ज्ञान रहने से सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव का उद्भव नहीं हो सकता। क्योंकि भक्त प्रेमिका रूप में भगवान को चाहता है, उनका ऐश्वर्य नहीं। बल्कि उनका कथन है कि इस प्रेम के वशीभूत होकर भगवान को भी भक्त के पास आना ही पड़ता है।

हमारी जैन परम्परा में निश्चय दृष्टि से यह बिल्कुल सत्य है कि वीतरागी भगवान को हमारी भक्ति से कोई लगाव नहीं है। वे हमारे लिए कुछ नहीं करते, केवल निमित्त रूप से उनका गुणगान हमारे आत्म-उन्नयन में सहायक बनता है। किन्तु फिर भी हम मात्र उनका गुणगान ही नहीं करते, निश्चित रूप से स्तवनों में भजनों में यही कहते हैं—'हे भगवन्, तेरी कृपा से ही मैं भवसागर पार कर सकता हूँ। हे प्रभो, मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं राग-द्वेष को जीतकर मोक्ष प्राप्त करूँ, सभी दुःखों से छुटकारा पाऊँ।' क्योंकि बिना इस आस्था के भक्ति टिक नहीं सकती। भक्ति के लिए चाहिए स्वयं का समर्पण और इष्टदेव पर पूर्ण विश्वास। अतः रागात्मक मनुष्य स्वभाव से ही उधर मुड़ जाता है। वह यह मानकर चलने लगता है कि मेरे इहलौकिक और पारलौकिक सभी दुःख भगवद् भक्ति से दूर हो जाएँगे। यहाँ वह जानकर भी यह नहीं जानेगा कि बिना उसके इष्टदेव की कृपा के वह भव सागर पार कर सकता है स्व पौरुष से। और यह किसी हद तक उचित ही है। अपनी तुच्छता का आभास अहं को जितनी जल्दी गला सकती है, उतनी अन्य वस्तु नहीं। इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र लिखते हैं भगवान का स्मरण चित्त को पवित्र बनाता है चाहे वह कैसे भी करें। इसी दृष्टि से वह कभी उन्हें कर्त्ता कहता है, कभी प्रार्थना करता है, कभी विनती।

यह प्रश्न भी उठता है कि जब भक्ति इष्ट में अनुराग है और वीतराग भगवान हैं राग रहित जो कि राग त्यागने का उपदेश देते हैं उनमें अनुराग कैसे सम्भव है? क्योंकि राग तो आखिर कर्म बन्ध का ही कारण है। पर आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं वीतराग भगवान से किया गया अनुराग पाप बन्ध का यत्किंचित भी कारण नहीं बनता। वे कहते हैं पंच परमेष्ठी से राग करने वाला सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है। पर में होने वाला राग कर्म-बन्ध का कारण होता है, स्व में होने वाला नहीं। वीतरागी परमात्मा का राग स्व-राग है। जिनेन्द्रों में राग करने वाला स्व-आत्मा से ही राग करता है और स्व में राग करने वाला मोक्षगामी बनता है।

भक्ति के उद्भव के विषय में भी कुछ लोगों का मत है कि भारतीय धर्मों की भक्ति इसाई या ईस्लाम धर्म से प्राप्त हुई, पर यह बात निराधार है। कारण ऋग्वेद की संहिता के कुछ सूक्तों में सख्य एवं मधुर भाव के आभासयुक्त इन्द्र-स्तुतियाँ पायी जाती हैं। उपनिषद् मूलतः ज्ञान मूलक होने पर भी उसमें भक्ति नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्वेताश्वतर में कहा गया है कि मोक्ष प्रार्थी परब्रह्म की शरण ग्रहण करता है। आगे जाकर यह भी कहा है

कि वेदान्त का अर्थ उसी में प्रकाशित हो सकता है जिसकी गुरु और भगवान में भक्ति है। लगता है भारत में ईस्लाम आक्रमण के पश्चात् नानक, दादू, चैतन्य, मीरा, सूरदास आदि का प्रादुर्भाव होने के कारण एवं वैष्णव भक्ति का प्राबल्य देखकर ही लोगों की यह धारणा बन गयी हो। पर वैष्णव भक्ति का प्रारम्भ ईसा की छठी शताब्दी में ही द्रविड़ देशों में हो चुका था। उस समय के अड़वार और नयनार सन्तगण भक्ति मूलक गीतों की रचना करते थे। अड़वार का अर्थ है भगवद् प्रेम में निमग्न रहना। इन अड़वारों की भक्ति पद्धति बिल्कुल वैष्णव पद्धति थी। उसी पद्धति की भाँति संकीर्तन उनका प्रधान अंग था। नयनार का अर्थ होता है जिन। नयनार मन्दिर से जिन मन्दिर ही समझा जाता है। नयनार सन्तों को यदि हम जैन सन्त मानते हैं तो जैन परम्परा में हम इसे भक्ति का एक प्राचीन उल्लेख रूप में निर्देश कर सकते हैं।

वास्तव में तो जैन परम्परा में भक्ति का उल्लेख इससे भी प्राचीन काल से पाया जाता है। भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र को यदि हम ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का मानें तो इसमें इन्द्र ने भगवान की जो स्तुति की उसे हम जिन भक्ति के प्राचीनतम् निदर्शन के रूप में ले सकते हैं, क्योंकि उसमें यह भी उल्लेख है कि हर तीर्थङ्करों के जन्म के समय इन्द्र इसी स्तोत्र से स्तुति करते हैं जो कि इसी कारण शक्र स्तव के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से तो भक्ति का काल ही परा-ऐतिहासिक काल हो जाता है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने जिन्हें हम ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी का मानते हैं सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति,योग भक्ति और आचार्य भक्ति की बात कही थी। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र में भी श्रद्धा, विनय आदि के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों का निर्माण हुआ है। एक सूत्र में तो उन्होंने तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय में भक्ति को कारण कहा है। तीर्थङ्कर भक्ति के कारण ही रावण ने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया ऐसा जैन शास्त्रों में उल्लेख है। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र पर जो व्याख्याएँ लिखी गयीं उनमें भक्ति सम्बन्धी सूत्रों की विशद् व्याख्या की गयी है। तदुपरान्त आचार्य समन्तभद्र ने भी श्रद्धा, विनय, वैयावृत्त, जिनेन्द्र और गुरुभक्ति पर तात्विक रूप से विचार किया है। आचार्य पूज्यपाद के ग्रन्थों में भी समाधि और गुरुभक्ति के विषय में अनेक प्रकरण बिखरे पड़े हैं। सिद्धसेन द्वात्रिंशिका स्तोत्र में भी भक्ति की चर्चा की गयी है। आचार्य योगीन्दु (छठी शताब्दी) परमात्म प्रकाश योग सार में सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाते हुए उनकी भक्ति का निरूपण करते

है। आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में जिनेन्द्र के पंच कल्याणक और इससे सम्बन्धित भक्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य शिवकोटि की भगवती आराधना में जैन भक्ति पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। श्री जिनदास गणि ने निशीथ चूर्णि में "सेवा जा सा भक्ति" कहकर जिनेन्द्र सेवा पर बहुत कुछ लिखा है। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक (१०१६ विक्रम) और आचार्य वसुनन्दि के श्रावकाचार (१२ सदी विक्रम) में भक्ति के अनेक अंग-उपांगों की व्याख्या प्राप्त होती है।

फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि जैन भक्ति श्रद्धा और सेवा के रूप में ही पर्यवसित होकर रह गयी। वैष्णव साधकगण भक्ति की रागानुगा परम्परा को जिस हद तक ले गए हैं जैन भक्ति साहित्य में वह क्रम उपलब्ध नहीं है। उन कवियों ने अनुराग की उष्णता से जिस प्रकार मर्त्य और अमर्त्य की सीमाओं को तोड़ा है उसका जैन भक्ति साहित्य में सर्वथा अभाव है। वह भक्ति तात्विक उलझनों में उलझ कर वैसी अन्तरंगता नहीं प्राप्त कर सकी जैसी कि वैष्णव संतों ने प्राप्त की है। हमारे यहाँ की भक्ति में स्वामी-सेवक भाव की भक्ति है। इस दास्य भाव की भक्ति में भी भक्त स्वभावतः अपने स्वामी पर पूर्णतः निर्भर होना चाहता है। वह चाहता है उसका सभी सुख-दुःख उसके स्वामी दूर करेंगे, चाहे वह इहलौकिक हो या पारलौकिक। ज्ञानी तो अपने ज्ञान के बल पर इस स्थिति को संभाले रहता है, किन्तु निम्न अधिकारियों को जब यह ज्ञात हो जाता है कि उनका वीतराग स्वामी उन्हें कुछ नहीं दे सकता तो वे संलग्न हो जाते हैं उन देव-देवी की उपासना में जो कि उन्हें सांसारिक वस्तुएँ दे सकते हैं। इस दृष्टि से माधुर्य भाव की उपासना का स्तर ऊँचा है। क्योंकि उसमें कुछ माँगने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उस भक्ति में इतनी अन्तरंगता होती है कि इहलौकिक वस्तुएँ तो क्या अपने इष्टदेव के प्रेम के सम्मुख वह मोक्ष की भी कामना नहीं करता। वह तो चाहता है मात्र अपने इष्टदेव का सतत् स्मरण और यही वह स्मरण है, जो उसके तद्रूप बनने में सहायक बनता है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

संभिन्नमति की बात सुनकर स्वयंबुद्ध कहने लगे—"उन नास्तिकों को धिक्कार है जो स्वयं को एवं अन्य को, जिस प्रकार अन्धा अपने अनुयायी व्यक्ति को कुएँ में डलवा देता है उसी प्रकार ऐसी बातें बनाकर, दुर्गति में डालता है। जिस प्रकार दुःख-सुख स्वसंवेदन से जाना जाता है उसी भाँति आत्मा भी स्वसंवेदन से ही जाना जाता है। जैसे स्वसंवेदन में कहीं बाधा नहीं उसी प्रकार आत्मा का निषेध करना भी किसी के लिए सम्भव नहीं है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार की अबाधित प्रतीति आत्मा के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार के ज्ञान से स्वशरीर में जब आत्मा सिद्ध होती है तब अनुमान द्वारा अन्य के शरीर में भी आत्मा है यह सिद्ध होता है। जो प्राणी मरता है वह पुनः जन्म ग्रहण करता है इससे बिना किसी सन्देह के यह प्रमाणित होता है कि चेतना का परलोक भी है। जिस प्रकार चेतना बाल्य से यौवन प्राप्त होती है यौवन से वार्द्धक्य प्राप्त करती है उसी प्रकार चेतना एक जन्म से दूसरा जन्म भी ग्रहण करती है। पूर्व जन्म की स्मृति के बिना सद्यजात शिशु बिना शिक्षा प्राप्त किए ही मातृस्तन का पान कैसे कर सकता? इस जगत में जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। तब अचेतन भूत (पृथ्वी, अप, तेज व वायु) से चेतन किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? हे संभिन्नमति, बोलो, चेतन प्रत्येक भूत से उत्पन्न होती है या उसके समवाय से? यदि तुम कहते हो कि प्रत्येक भूत से चेतना उत्पन्न होती है तब तो जितने भूत हैं उतनी ही चेतना होना उचित है और यदि कहते हो कि समस्त भूत के समवाय से चेतना उत्पन्न होती है तब भिन्न-भिन्न स्वभाव युक्त भूत से एक स्वभाव सम्पन्न चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है? ये सभी तथ्य विचारणीय हैं। पृथ्वी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणयुक्त है, जल रूप, स्पर्श और रस गुण युक्त है, तेज रूप और स्पर्श गुण युक्त है एवं वायु केवल स्पर्शयुक्त है, इस प्रकार भूत के भिन्न-भिन्न स्वभाव सभी को ज्ञात हैं। यदि तुम कहो जल से भिन्न गुणयुक्त मुक्ता जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार अचेतन भूत से चेतना उत्पन्न होती है तो ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। कारण मुक्ता में जल होता है। दूसरे में मुक्ता और जल दोनों ही पौद्गलिक हैं। पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उनमें भेद नहीं है। तुमने गुड़, मैदा और

जल से उत्पन्न मादक शक्ति का उदाहरण दिया है। किन्तु वह मादक शक्ति भी अचेतन है। अतः चेतना के लिए यह दृष्टान्त कैसे ठीक हो सकता है? देह और आत्मा एक है यह कभी नहीं कहा जा सकता। एक प्रस्तर खण्ड की लोग पूजा करते हैं अन्य प्रस्तर खण्ड पर मूत्र त्याग यह दृष्टान्त भी गलत है। कारण प्रस्तर अचेतन है। इसलिए उसे दुःख-सुख का अनुभव कैसे होगा? अतः इस शरीर से भिन्न परलोक गामी आत्मा है और धर्म अधर्म भी है। (कारण परलोक गामी आत्मा ही इस जन्म का अच्छा-बुरा फल लेकर जाती है और वहाँ भोग करती है।) जिस प्रकार अग्नि के उत्ताप से मक्खन गल जाता है उसी प्रकार स्त्रियों के वशीभूत होना भी पुरुषों के विवेक को नष्ट कर देता है। अनर्गल और अधिक रसयुक्त आहार ग्रहण से मनुष्य पशु की भाँति उन्मत्त होकर उचित कार्य को भूल जाता है। अगरु, चन्दन एवं केशर-कस्तूरी आदि की सुगन्ध से कामदेव सूर्य की भाँति मनुष्य पर आक्रमण करता है। जिस प्रकार काँटों में वस्त्र अटक जाने से मनुष्य की गति अवरुद्ध हो जाती है उसी प्रकार स्त्रीरूपी काँटे में उलझकर पुरुष की मति स्खलित हो जाती है। जिस प्रकार धूर्त्त मनुष्य की मित्रता अल्पकाल के लिए ही सुखदायक होती है उसी प्रकार मोह उत्पन्नकारी संगीत का भी बार-बार श्रवण अन्ततः दुःखदायक हो जाता है। इसलिए हे प्रभु, पाप का मित्र धर्म का विरोधी नरक के द्वार को प्रशस्त करने वाले विषय का दूर से ही परित्याग कर दीजिए। हम देखते हैं यहाँ एक सेव्य है तो एक सेवक है। एक दाता है तो एक याचक है, एक आरोही है तो एक वाहन है, एक अभय दाता है तो एक अभय याचक है इन सभी से तो इसी लोक में धर्म-अधर्म का फल परिदृष्ट होता है। इन सबको देखकर भी जो स्वीकार नहीं करते उनका मंगल ही हो। मैं इस विषय में और क्या कहूँ? राजन्, आपको असत्य वचन की भाँति दुःखदायी अधर्म का परित्याग कर सत्य वचन की भाँति सुख का अद्वितीय कारण रूप धर्म का आश्रय ग्रहण करना उचित है।"

यह सब सुनकर शतमति नामक मन्त्री बोला—"प्रति मुहूर्त्त भंगुर पदार्थ विषयक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है। वस्तुतः स्थिरता विषयक जो बुद्धि है वह वासना का ही परिणाम है। इसीलिए पूर्व और अपर मुहूर्त्त की वासना रूप एकता वास्तविक है, मुहूर्त्त की एकता वास्तविक नहीं है।"

तब स्वयंबुद्ध ने कहा—"कोई भी वस्तु अन्वय या परम्परा रहित नहीं है। जिस प्रकार गाय से दूध पाने के लिए उसे जल, घास खिलाने की कल्पना करनी

होती है उसी प्रकार आकाश-कुसुम की भाँति या कच्छप के बाल की भाँति इस संसार में अन्वय रहित कोई वस्तु नहीं होती। इसलिए क्षणभंगुरता की बात करना वृथा है। यदि वस्तु क्षणभंगुर है तो संतान परम्परा को भी क्षणभंगुर कहा जा सकता है। यदि हम सन्तान की नित्यता स्वीकार करते हैं तब अन्य पदार्थ को क्षणिक कैसे कह सकते हैं? यदि समस्त पदार्थ को ही क्षणिक कहें तब धरोहर एवं धन को पुनः चाहना, जो बीत गया उसे पुनः स्मरण करना, अभिज्ञान (चिह्न) तैयार करना कैसे सम्भव हो सकता है? जन्म के दूसरे मुहूर्त्त ही जातक यदि विनष्ट हो जाता है तब तो पर मुहूर्त्त में उसे तो माता-पिता का सन्तान नहीं कहा जा सकता और नहीं बालक माता-पिता को माता-पिता कहेगा। अतः सभी वस्तु को क्षणभंगुर कहना असंगत है। विवाह के समय वर-वधू को पति-पत्नी कहा जाता है। वे यदि क्षणिक हैं, नाशवान हैं तब तो दूसरे मुहूर्त्त में पति पति नहीं रहेगा और पत्नी पत्नी नहीं रहेगी। इस प्रकार वस्तु को क्षणभंगुर कहना महान् मूढ़ता है। एक मुहूर्त्त में जो कुकर्म करता है दूसरे मुहूर्त्त में वह भिन्न व्यक्ति में रूपान्तरित हो जाता है तब तो फिर वह उसका फल भोग नहीं करेगा। यदि इस प्रकार होता है तब तो कृत का नाश और अकृत का आगमन ये दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं।"

तब महामति मन्त्री बोले—"यह समस्त माया है। तत्वतः यह सब कुछ नहीं है। जो सब वस्तुएँ हम देखते हैं वह स्वप्न या मृगतृष्णा की भाँति मिथ्या है। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, धर्म-अधर्म, अपना-पराया यह सब व्यवहार मात्र है—तत्वतः यह सब कुछ नहीं है। एक शृगाल एक टुकड़ा मांस लेकर नदी तट पर आया था। उसने जल में मछली तैरती देखी—तब वह मांस खण्ड छोड़कर मछली पकड़ने गया। मछली गहन जल में उतर गयी। तब वह उस मांस खण्ड को लेने दौड़ा तो देखा मांस खण्ड को चील ले गया है। इस प्रकार जो प्राप्त वैषयिक सुख को छोड़कर परलोक के सुख के पीछे दौड़ते हैं वे इतः नष्ट ततः भ्रष्ट होकर आत्मा को ही प्रवंचित करते हैं। धर्मध्वजियों का व्यर्थ उपदेश सुनकर लोग नरक के भय से भीत होते हैं और मोहग्रस्त होकर व्रतादि पालन कर शरीर को कष्ट देते हैं। नरक गमन के भय से इनकी तपस्या वैसी ही होती है जैसे लावक पक्षी जमीन पर गिर जाने के भय से एक पाँव से नृत्य करता है।"

तब स्वयंबुद्ध बोले—"यदि वस्तु सत्य नहीं है तब प्रत्येक को निज-निज कर्म का कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है? यदि सब कुछ माया है तो स्वप्न में प्राप्त हाथी (प्रत्यक्ष की भाँति) व्यवहार में क्यों नहीं आता? यदि तुम

पदार्थ के कार्य कारण भाव को अस्वीकार करते हो तो वज्रपात से भय क्यों खाते हो ? यदि कुछ भी अस्तित्व नहीं है तो तुम-मैं, वाच्य-वाचक यह भेद ही नहीं रहेगा और व्यवहार प्रवर्त्तक इष्ट प्राप्ति कैसे सम्भव होगा ? हे राजन्, वितण्डावाद में पण्डित शुभ परिणाम विमुख और विषयकामी व्यक्तियों द्वारा भ्रमित न हों। विवेक द्वारा विचार कर विषय को दूर से ही परित्याग कर इहलोक और परलोक में सुखदानकारी धर्म का आश्रय ग्रहण करिए।"

इस प्रकार मन्त्रियों का पृथक पृथक मतवाद सुनकर स्वाभाविक निर्मलता के लिए कान्ति सम्पन्न महाराज महाबल बोले—'हे बुद्धिमान स्वयंबुद्ध, तुम बहुत अच्छे हो। तुमने धर्म का आश्रय ग्रहण करने को जो कुछ कहा ठीक कहा। मैं भी धर्म द्वेषी नहीं हूँ। किन्तु जिस प्रकार मन्त्रास्त्र युद्ध में ही ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार धर्म समय होने पर ही ग्रहण किया जाता है। अनेक दिनों के पश्चात् आगत मित्र से यौवन का उपभोग किए बिना कौन उसकी उपेक्षा करता है ? तुमने जो धर्म उपदेश दिया वह असामयिक है। जिस समय मधुर वीणा बज रही हो उस समय वेद मन्त्र का उच्चारण शोभा नहीं देता। धर्म का फल परलोक है। वह सन्देहास्पद है। इसलिए तुम इस लोक के सुख भोग का निषेध क्यों करते हो ?"

महाराज महाबल का वचन सुनकर स्वयंबुद्ध करबद्ध होकर बोले—"महाराज, आवश्यक धर्म के फल में शंका करना कभी उचित नहीं है। शायद आपको याद होगा बाल्यकाल में एक दिन जबकि हम नन्दन वन गए थे तब एक कान्ति सम्पन्न देवता से हम मिले थे। उस देवता ने प्रसन्न होकर आपको कहा था—"मैं तुम्हारा पितामह हूँ। मेरा नाम अतिबल है। मैंने भीत होकर असत् बन्धु की भाँति विषय सुख से विरक्त बन राज्य का तृणवत परित्याग कर रत्नत्रय ग्रहण किया था। अन्तिम समय में भी रत्नरूपी प्रासाद के कलश रूपी त्याग भाव को स्वीकार कर उस शरीर का परित्याग किया था। उसी के फलस्वरूप लान्तकाधिपति देव बना हूँ। अतः तुम भी असार संसार में प्रमादी बन कर मत रहना।' ऐसा कहकर वे विद्युत की भाँति स्व-प्रभा से आकाश आलोकित करते हुए प्रस्थान कर गए। इसलिए हे राजन् ! आप अपने पितामह के कथन पर विश्वास कर परलोक है यह स्वीकार कीजिए। कारण जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण ही रहा हुआ है वहाँ अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है ?"

महाबल बोले—"तुमने मेरे पितामह की बात स्मरण करवा कर खूब अच्छा किया। अब मैं धर्म-अधर्म जिसका कारण है उस परलोक को स्वीकार करता हूँ।"

राजा के आस्तिक्य युक्त कथन सुनकर मिथ्यादृष्टि मानव की वाणी रूप धूल के लिए जलदरूप स्वयंबुद्ध अवसर पाकर बोले—"महाराज, बहुत पहले आपके वंश में कुरुचन्द्र नामक एक राजा हुए थे। उनके कुरुमति नामक स्त्री और हरिश्चन्द्र नामक एक पुत्र था। वे क्रूर प्रकृति के थे और सदैव बड़े-बड़े आरम्भ-समारम्भ किया करते थे। वे अनार्य कार्यों के नेता थे। दुराचारी थे, भयंकर थे और यमराज की भाँति निर्दयी थे। उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य किया कारण पूर्व जन्म में उपार्जित धर्म का फल अद्वितीय होता है। अन्ततः वे अत्यन्त दूषित धातु रोग से आक्रान्त हुए। उस समय रुई के नरम तकिए भी उन्हें काँटे की भाँति लगते। मधुर स्वाद युक्त भोजन नीम की भाँति तिक्त और कटुक लगते। चन्दन, अगरू, कस्तूरी आदि सुगन्धित वस्तुएँ दुर्गन्धयुक्त लगतीं। स्त्री-पुत्रादि प्रियजन शत्रु की भाँति एवं सुन्दर मधुर गान गर्दभ, ऊँट या सियारों की चीत्कार से प्रतीत होते। कहा भी गया है—जब पुण्य नाश हो जाता है तब समस्त वस्तुएँ विपरीत धर्मी हो जाती हैं।

"कुरुमती और हरिश्चन्द्र गुप्त रूप से परिणाम में दुःखदायी किन्तु अल्प समय के लिए सुखकर नानाविध विषयोपचार से उनकी परिचर्या करने लगे। अन्ततः कुरुचन्द्र के शरीर में ऐसी ज्वाला उत्पन्न हुई जैसे अंगारे उन्हें दग्ध कर रहे हैं। इस प्रकार दुःख से पीड़ित होकर रौद्रध्यान में उन्होंने इहलोक का परित्याग किया।

"कुरुचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र पिता का अग्नि संस्कारादि कर सिंहासन पर आरूढ़ हुए। आचरण में वे सदाचार रूप पथ के पथिक थे। वे विधिवत् राज्य परिचालना करने लगे। पाप के कारण पिता की दुःखदायी मृत्यु देखकर वे धर्म सेवा करने लगे। ग्रहों में जिस प्रकार सूर्य मुख्य है उसी प्रकार समस्त पुरुषार्थ में धर्म ही मुख्य है।

"सुबुद्धि नामक उनका एक जिनोपासक बाल-मित्र था। हरिश्चन्द्र ने उससे कहा तुम तत्वज्ञ से धर्म अवधारण कर मुझे सुनाओ। सुबुद्धि भी तदनुरूप उन्हें धर्म कथा सुनाने लगा। कहा भी गया है—मनोनुकूल आदर्श सत्पुरुष का उत्साह वर्द्धन करता है। पाप भय से भीत हरिश्चन्द्र, रोग से डरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार औषध पर श्रद्धा रखता है उसी प्रकार, सुबुद्धि कथित धर्म पर श्रद्धा रखने लगा।

"एकबार उसी नगरोद्यान में शीलंकर नामक एक महामुनि ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें वन्दना करने के लिए देवताओं का आगमन हुआ।

सुबुद्धि ने यह बात हरिश्चन्द्र से कही। निर्मल हृदयी हरिश्चन्द्र घोड़े पर सवार होकर मुनि के पास गए और मुनि को वन्दना कर उनके सम्मुख बैठ गए। मुनि ने कुमतिरूप अन्धकार को दूर करने के लिए चन्द्रिका तुल्य धर्मोपदेश दिया। उपदेश के अन्त में हरिश्चन्द्र हाथ जोड़कर मुनि से जिज्ञासा की—'हे महात्मन्, मृत्यु के पश्चात् मेरे पिता ने किस गति को प्राप्त किया है?'

"त्रिकालदर्शी मुनि बोले—'हे राजन्, आपके पिता सप्तम् नरक में गए हैं। उनके जैसे मनुष्य का और कहीं स्थान नहीं हो सकता।'

"यह सुनकर हरिश्चन्द्र के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे मुनि को वन्दना कर अपने प्रासाद में लौट गए। वहाँ जाकर पुत्र को सिंहासनारूढ़ कर सुबुद्धि से कहा—'मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। तुम जिस प्रकार मुझे धर्म सुनाते थे उसी प्रकार अब इसे सुनाते रहना।'

"सुबुद्धि ने कहा—'मैं भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करूँगा। मेरा पुत्र आपके पुत्र को धर्म सुनाएगा।'

"इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र और सुबुद्धि ने कर्मरूप पर्वत को विनष्ट करने वाली व्रतरूप प्रव्रज्या ग्रहण कर दीर्घ दिन तक मुनिधर्म का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त किया।"

स्वयंबुद्ध ने फिर कहा—"देव आपके वंश में दण्डक नामक अन्य एक राजा ने जन्म ग्रहण किया था। वे शत्रुओं के लिए यमराज तुल्य थे। उनके मणिमाली नामक एक पुत्र था। मणिमाली सूर्य की भाँति तेजस्वी थे। दण्डक पुत्र स्त्री मित्र धनरत्न सुवर्ण आदि में आसक्ति परायण थे एवं इन्हें वे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। आयुष्य समाप्त होने पर आर्तध्यान में उनकी मृत्यु हुई। वे अजगर योनि प्राप्त कर अपने ही कोषागार में उत्पन्न हुए और वहीं रहने लगे। वह सर्वभक्षी क्रूर अजगर जो भी कोशागार में प्रवेश करता उसे ही खा डालता। एकबार उसी अजगर ने मणिमाली को कोषागार में प्रवेश करते देखा। पूर्वजन्म के ज्ञान से जब वह जान पाया कि मणिमाली उसका पुत्र है तो वह शान्त होकर स्नेह की साक्षात मूर्त्ति-सा बना वहाँ उपस्थित हुआ। यह देखकर मणिमाली समझ गया कि यह अजगर उसके पूर्व जन्म का कोई आत्मीय या बन्धु है। अन्ततः मणिमाली ने किसी ज्ञानी से यह ज्ञात किया कि यह उसका पिता है। तब उसने उस अजगर को जिनधर्म का उपदेश दिया। अजगर ने धर्म ग्रहण कर त्याग-व्रत ग्रहण किया और शुभध्यान में मृत्यु वरण कर स्वर्ग में देवता रूप में उत्पन्न हुआ। उसी देवता ने

आकर मणिमाली को एक दिव्य मुक्तामाला उपहार में दी। उसी माला को आपने कण्ठ में धारण कर रखी है। आप हरिश्चन्द्र के वंशधर हैं। मैंने सुबुद्धि के वंश में जन्म ग्रहण किया है। एतदर्थ मेरा और आपका सम्बन्ध वंश परम्परागत है। इसीलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप धर्म संलग्न बनिए। फिर मैंने असमय में आपको धर्म कथा क्यों कही इसका भी कारण है। आज नन्दनवन में मैंने दो चारण मुनियों को देखा। वे दोनों ही जगत प्रकाशक और महामोहरुपी घन-अन्धकार को विनष्ट करने वाले चन्द्र-सूर्य की भाँति ज्ञात होते थे। अपूर्व ज्ञान सम्पन्न वे दोनों धर्मोपदेश दे रहे थे। मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी आयु कितनी है? इसपर वे बोले कि आपकी आयु अब मात्र एक मास अवशेष रही है। इसीलिए हे राजन्, मैं आपको शीघ्र धर्मकार्य में संलग्न होने का अनुरोध करता हूँ।"

महाबल बोले—"हे स्वयंबुद्ध, हे बुद्धि के समुद्र, मेरे एकमात्र बन्धु तो तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरे हितचिन्तन में सर्वदा तत्पर रहते हो। विषयासक्त एवं मोहनिद्रा में निद्रित मुझे जागृत कर तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है। अब मुझे यह बताओ मैं धर्म-साधना कैसे करूँ? आयु कम है। इतने अल्प समय में मैं कितनी धर्माराधना करने में सक्षम हो पाऊँगा? अग्नि लग जाने पर कुआँ खुदवाने से क्या अग्नि बुझायी जा सकती है?"

स्वयंबुद्ध ने कहा—"महाराज, परिताप मत कीजिए। दृढ़ बनिए। आप परलोक के मित्र रूप यति धर्म का आश्रय ग्रहण कीजिए। एक दिन का भी यति धर्मपालन करने वाला मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है, स्वर्ग की तो बात ही क्या?"

महाबल ने दीक्षा लेना स्थिर कर अपने पुत्र को इस प्रकार सिंहासन पर बैठाया जैसे मन्दिर में प्रतिमा स्थापित की हो। दीन और अनाथ पर अनुकम्पा कर उन्होंने इतना दान दिया कि उस नगर में कोई दीन रहा ही नहीं। द्वितीय इन्द्र की भाँति उन्होंने समस्त चैत्यों में विचित्र वस्त्रादि माणिक स्वर्ण और पुष्पों से अर्हत् देवों की पूजा की। तत्पश्चात् स्वजन-परिजनों से क्षमायाचना कर मुनिदेवों से मोक्षवासियों की सखीरूप दीक्षा ग्रहण कर ली। समस्त दोषों का परिहार कर उस राजर्षि ने चतुर्विध आहार का भी परित्याग किया। वे समाधिरूप अमृत निर्झर में सर्वदा लीन रहकर कमलिनी खंड-सा किंचित् भी म्लान नहीं हुए। वे महासत्ववान इस प्रकार अक्षीण कान्तिमय होने लगे मानो वे उत्कृष्ट आहार ग्रहण करते हों। बाईस दिनों के अनशन के पश्चात् उन्होंने पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए काल धर्म प्राप्त किया।

[क्रमशः

जैन कोश साहित्य

श्री नेमिचन्द्र जैन

किसी भी भाषा के शब्द-समूह का रक्षण और पोषण कोश साहित्य द्वारा ही सम्भव है। कोश की महत्ता के सम्बन्ध में बतलाया गया है—

कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि।
उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन बिना भवेत्॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोश के अभाव में शासन-सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्द-कोश के बिना अर्थग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों के संकेतग्रहण की योग्यता कोश साहित्य के द्वारा ही प्रतीत होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार के उपयोगी और सार्वजनीन साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किन कारणों से उत्पन्न होता है? कोशगत शब्द सम्पत्ति पर जैन, बौद्ध और वैदिक विचारधाराओं की साम्प्रदायिक छाप किस प्रकार सम्भव है? ऐसा तो कभी सम्भव नहीं होता कि जैन आम्नाय में शब्दों का प्रयोग किसी अर्थ में होता हो और इतर आम्नाय में अन्य किसी अर्थ में। जल शब्द का अर्थ मानव मात्र के लिए पिपासा शान्त करने वाला शीतल पदार्थ है, न कि जैन आम्नाय वालों के लिए किसी भिन्नार्थ का द्योतक। अतः कोश साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किस प्रकार सम्भव है? इस प्रश्न का समाधान निम्न निष्पत्तियों के आधार पर सहज ही किया जा सकता है।

१. प्रत्येक दर्शन की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओं के अनुसार शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरण से प्रभावित रहती है, अतः इन शब्दावलियों का तात्विक अर्थ उस सम्प्रदाय के आचार्य ही अवगत कर पाते हैं। फलतः जैन दर्शन के प्रकाश में शब्दों के अर्थों का विवेचन जैन कोशों में ही सम्भव है।

२. प्रत्येक दर्शन या आम्नाय में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दों का गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावों की अभिव्यंजना में सफल नहीं हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उपर्युक्त प्रकार की शब्दावलियों का चयन करते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि अर्हत्, जिन, नाभिज, वर्गणा, द्रव्य, नारायण प्रभृति सहस्रों ऐसे

शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द अमरकोश, वैजयन्ती, मेदिनी, विश्वप्रकाश कोश आदि में नहीं है। जैन कोशकारों ने साधारणीकरण के धरातल पर उतर कर ऐसे कोशों का निर्माण किया, जो सबके लिए समान रूप से उपादेय हो सकते हैं।

३. अपने सम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, संकलन और प्रतिपादन करना भी साम्प्रदायिक कोशों का एक लक्ष्य है।

४. साम्प्रदायिक क्षितिज में आश्लिष्ट व्यक्तियों के नाम, वस्तुओं के नाम तथा भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियों के अर्थों का निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशों में ही सम्भव है।

५. प्रत्येक धर्म का किसी एक भाषा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। वह भाषा उस सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों की अपनी भाषा मान ली जाती है। यथा वैदिक धर्म के लिए संस्कृत, बौद्ध धर्म के लिए पालि एवं जैन धर्म के लिए प्राकृत। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने धर्म ग्रन्थों में व्यवहृत भाषा के कोशग्रन्थ भी लिखते हैं। यही कारण है कि जैन कोशकारों ने संस्कृत के कोशग्रन्थों के साथ प्राकृत और देशी भाषा में भी कोशग्रन्थों की रचना की है।

जैन कोश साहित्य की उत्पत्ति और विकास :

द्वादशांग वाणी के अन्तर्गत सभी प्रकार का साहित्य सन्निविष्ट हो जाता है, अतः कोश साहित्य की रचनाएँ भी सत्य प्रवाद पूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्यायों में से अक्षर विद्या में सम्मिलित हैं। आरम्भ में एकादश अंगों, चतुर्दश पूर्वों के भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियों एवं विभिन्न प्रकार की टीकाएँ ही कोश साहित्य का काम करती रहीं। कालान्तर में जब चूर्णियों और भाष्यों के शब्दार्थों की पूर्णतः जानकारी न रही तो शब्दकोशों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सबसे पहले कौन-सा जैन या जैनेतर कोश लिखा गया, यह कहना कठिन है। उपलब्ध जैन कोश साहित्य में धनंजय कवि की नाममाला ही सबसे प्राचीन है। यद्यपि ई० की पाँचवी और छठी शताब्दी में कोश का स्वरूप निश्चित हो चुका था। संघदास गणी की वसुदेव हिण्डी के "चत्तारि अट्ठ" वाली गाथा के १४ अर्थ किए गए हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थकोश की बुनियाद हैं। जैनों में प्रचलित द्विसंधान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान जैसे अनेकार्थक काव्यों की परम्परा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जैनो में कोश

साहित्य का सृजन भाष्य और वृत्तियों के पश्चात् तत्काल में ही हुआ होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है, जब कोशों में शब्दों के विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिए जाते हैं। एक-एक श्लोक के सौ-सौ अर्थों की अभिव्यंजना करना साधारण बात नहीं है।

महाकवि धनंजय के कोश-विषयक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नाममाला, अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित द्विसन्धान काव्य और विषापहार स्तोत्र भी हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम श्लोक की टीका से अवगत होता है कि इनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ था। ये गृहस्थ थे। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में सुदृष्टितरंगिणी की ४१ वीं तरंग से ज्ञात होता है कि ये प्रसिद्ध अमर कोशकार अमरकवि के साले थे। शोलापुर निवासी स्व० सेठ रावजी सखारामजी दोशी महोदय ने अमरकोश सम्बन्धी एक ट्रैक्ट प्रकाशित किया था, जिसकी भूमिका में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया था कि अमरकोशकार जैन हैं।

नाममाला के अन्त में प्राप्त होने वाले निम्न श्लोक से कवि की कीर्त्ति "द्विसन्धानकवि" के नाम से व्याप्त थी।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकदेव का प्रमाण शास्त्र, पूज्यपाद का लक्षण—व्याकरणशास्त्र और द्विसन्धान कवि का द्विसन्धानकाव्य—ये तीनों अपूर्व रत्नत्रय हैं। वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित के प्रारम्भ में द्विसन्धान काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणाधनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥

धनंजय के द्वारा कहे गये अनेक सन्धान अर्थभेद वाले और हृदयस्पर्शी वचन कानों को ही प्रिय क्यों लगेंगे, जबकि अर्जुन के द्वारा छोड़े जाने वाले अनेक लक्ष्यों के भेदक मर्मभेदी बाण कर्ण को प्रिय नहीं लगते।

इससे स्पष्ट है कि शब्द के अर्थ और उनके समुचित प्रयोग का वैदग्ध्य इन्हें पूर्णतया प्राप्त था। नाममाला का अन्तिम श्लोक भी उक्त तथ्य का साक्षी है :

ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनादव्याजात् तुषाराचल—
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदी व्याजात् तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधि शायिनं, जलनिधिः ध्वानोपदेशादहो,
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ।।

धनंजय के भय से पीड़ित होकर शब्द ब्रह्माजी के पास जाकर वेदों के निनाद के छल से, हिमालय पर्वत के स्थान में रहने वाले महादेवजी को प्राप्त होकर, उनके प्रति स्वर्ग की गंगा की ध्वनि के मिष से एवं समुद्र में शयन करने वाले विष्णु के प्रति समुद्र की गर्जना के छल से जाकर पुकारते हैं, यह नितान्त आश्चर्य की बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकवि धनंजय का शब्दों के ऊपर पूरा अधिकार है।

धनंजय के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। स्व० नाथूरामजी प्रेमी ने बनारसीविलास की उत्थानिका में ध्वन्यालोक के कर्त्ता आनन्दवर्धन और हर्षचरित के कर्त्ता रत्नाकर द्वारा धनंजय की स्तुति किये जाने की बात कही है। आनन्दवर्धन का समय ई० ८४०-७० एवं रत्नाकर का समय ई० ८१३-५० है। अतः महाकवि धनंजय का समय ई० ८१३ से पहले होना चाहिए।[1]

उपर्युक्त कथन की पुष्टि आदरणीय डाक्टर हीरालालजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम् प्रथम भाग की प्रस्तावना[2] से भी होती है। डाक्टर साहब ने सूचित किया है कि जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने धवला टीका पृ० ३८७ पर अनेकार्थ नाममाला का "हेतावेवं प्रकाराद्यैः" श्लोक उद्धृत किया है। धवला टीका सन् ८१६ में समाप्त हुई थी, अतः धनंजय का समय ई० ८१६ के पहले होना तर्क सम्मत है।[3]

नाममाला :

यह छात्रोपयोगी सरल और सुन्दर शैली में लिखा गया कोश है। इसमें व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले सभी आवश्यक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। महाकवि धनंजय ने २०० श्लोकों में ही संस्कृत भाषा की आवश्यक शब्दावली का चयनकर गागर में सागर भर देने की कहावत चरितार्थ की है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की इनकी प्रक्रिया निराली है। अमरकोश, वैजयन्ती प्रभृति किसी भी कोशकार ने इस पद्धति को नहीं

---

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १, पृ० २२।

[2] षट्खण्डागम् के प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ० ६२।

[3] विशेष विचार के लिए देखें—नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना, पृ० ११।

अपनाया है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी से ही दूसरे प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी सहज में हो जाती है। जैसे पृथ्वी के नामों के आगे 'धर' या धर के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम; 'पति' शब्द या पति शब्द के समानार्थक स्वामिन् आदि शब्द जोड़ देने से राजा के नाम एवं 'रूह' शब्द जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार जल शब्द के नामों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से मछली के नाम, वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से बन्दर के नाम, जल शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'प्रद' शब्द जोड़ देने से बादल के नाम, 'उद्भव' शब्द जोड़ देने से कमल के नाम एवं 'धर' शब्द जोड़ देने से समुद्र के नाम बन जाते हैं। महाकवि धनंजय ने अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इस कोश को अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बनाया है। इस कोश में कुल १७०० शब्दों के अर्थ दिए गए हैं।

इस कोश पर अमरकीर्त्ति का भाष्य भी विद्यमान है। अमरकीर्ति का समय १५ वीं शती माना गया है। इन्होंने नाममाला में आए हुए समस्त शब्दों की व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं। इन व्युत्पत्तियों से शब्दों का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

अनेकार्थ-नाममाला अनेकार्थ-निघण्टु :

अनेकार्थ-नाममाला में एक शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ४६ पद्य हैं और अघ, अज, अंजन, अथ, अद्रि, अनन्त, अन्त, शब्द, अर्क, इति, कदली, कम्बु, केतन, कीलाल, कैवल्य, कोटि, क्षीर प्रभृति सौ शब्दों के नाना अर्थों का संकलन किया गया है। मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने कहा :

गम्भीरं रुचिरं चित्रं विस्तीर्णार्थं प्रसाधकम्।
शाब्दं मनाक् प्रवक्ष्यामि कवीनां हितकाम्यया ॥

कवियों की हितकामना की दृष्टि से गम्भीर, सुन्दर, विचित्र और व्यापक अर्थ को प्रकट करने वाले कतिपय शब्दों का निरूपण करता हूँ।

अनेकार्थ निघण्टु में २६८ शब्दों के विभिन्न अर्थों का संकलन दिया गया है। रचना शैली की दृष्टि से यह कोश साधारण स्तर का है। इसकी श्लोक संख्या १५४ है। एक-एक शब्द के तीन-तीन चार-चार अर्थ बतलाये गए हैं। अनेकार्थ निघण्टु पर अमरकीर्ति का भाष्य नहीं है।

पाइअलच्छी-नाममाला :

प्राकृत भाषा में भी शब्द कोशों की रचना जैनाचार्यों ने की है। अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम इस दिशा में गौरव के साथ लिये जाते हैं। यद्यपि आज उपर्युक्त सभी रचयिताओं की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, कुछेक के नामों की मात्र सूचना ही मिलती है, तो भी धनपाल कवि की पाइअलच्छी-नाममाला, प्राकृत भाषा के लिए एक अच्छा कोश है। महाकवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति निम्न प्रकार दी है—

विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
मालवरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥
धारानयरीए परिट्ठएण मग्गेठिआए अणवज्जे।
कज्जे कणिष्ट्ठबहिणीए; 'सुन्दरी' नामधिज्जाए ॥
कइणो अंधजणकिवा कुसलत्ति पयाण भंतिमावण्णा।
नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी ॥
कव्वेसु जे रसड्ढा सद्दा बहुसा कईहि बज्झन्ति।
ते इत्थ मए रइया रमंतु हिअए सहिअयाणं ॥

अर्थात् विक्रम संवत् १०२९ में जबकि मालवनरेन्द्र को निर्वासित कर दिया गया था, धारानगरी के अन्तर्गत मानखेड गाँव में कवि धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए इस निर्दोष ग्रन्थ की रचना की। जो काव्यों का रसास्वादन करने वाले हैं, वे कवियों के द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकार की शब्दावली को इस कृति के द्वारा अवगत कर सकेंगे।

धनपाल कवि का उल्लेख कवि हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में "व्युत्पत्तिर्धनपालतः" कहकर किया है। अतः यह सिद्ध है कि कोशकार धनपाल, हेमचन्द्र के समय तक पर्याप्त यश अर्जन कर चुके थे।

इनके पिता का नाम सर्वदेव था। वे काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका मूल निवास स्थान 'शंकास्य' नामक ग्राम था। ये आजीविका के निमित्त धारा नगरी में आए थे। इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे। आधी आयु बीत जाने पर वे महेन्द्रसूरि के निकट जैन-धर्म में दीक्षित हुए थे। इन्होंने धारा नगरी में जैनों के प्रवेश पर लगी हुई रोक को हटवाया था। जैन होने के उपरान्त ही धनपाल ने पाइअलच्छी-नाममाला की रचना की।

यह पद्यबद्ध कोश है। इसमें कुल २७५ गाथाएँ और १९९८ शब्दों के पर्याय संग्रहीत है। इस कोश में संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द

तथा देशी शब्द, इन दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन किया गया है। उदाहरण के लिए भ्रमर के पर्यायवाची शब्दों को लिया जाता है।

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो।
इंदिंदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥११॥

अर्थ—फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिंदिर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर ये ११ नाम भ्रमर के हैं। इन ग्यारह शब्दों में फुल्लंधुअ, रसाऊ, भसल, इंदिंदिर और धुअगाय ये पाँच शब्द देशी हैं। यों तो फुल्लंधुअ की व्युत्पत्ति पुष्पन्धय और रसाऊ की रसायुष की जा सकती है और पुष्पन्धय का अर्थ भी पुष्परस का पान करने वाला भ्रमर होगा, किन्तु ये दोनों शब्द देशी ही हैं।

सुन्दर शब्द के पर्यायवाचियों में भी लट्ठं का प्रयोग किया है। यह भी देशी शब्द है। इस कोश में कुछ ऐसे भी देशी शब्द आए हैं, जिनका प्रयोग आज भी लोक-भाषाओं में होता है। उदाहरण के लिए अलस या आलस के पर्यायवाचियों में एक मट्ठ शब्द आया है। व्रजभाषा में आज भी आलसी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार नूतन पल्लवों के अर्थ में कुंपल शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द व्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ी-बोली इन तीनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस कोश में अनेक ऐसे देशी शब्द संग्रहीत हैं, जिनका प्रयोग आज भी आर्य भाषाओं में पाया जाता है।

इस कोश के अन्त में प्रत्ययों के अर्थ बतलाये गए हैं। हर प्रत्यय को स्वभावसूचक और इल्ल, इत्र, आल प्रत्यय को मत्वर्थक बताया गया है। इस तरह कोशकार ने इसे सभी प्रकार से उपयोगी बनाने का उपक्रम किया है।

पाइअलच्छी-नाममाला के उपरान्त कोशकारों में काल-क्रमानुसार हेमचन्द्र का नाम आता है। इनका जन्म अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित धुंधका नगर में विक्रम सं० ११४५ में कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था। इनके पिता का नाम चाचिंग और माता का नाम पाहिणी देवी था। इनका जन्म नाम चांगदेव और दीक्षा नाम सोमचन्द्र था। इन्होंने आचार्य देवचन्द्र से बचपन में ही दीक्षा धारण की थी। सूरिपद प्राप्त होने के पश्चात् ये हेमचन्द्र कहलाये। इनकी विद्वता से सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों ही प्रभावित थे। अगाध पाण्डित्य के कारण ही ये कलिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे। इन्होंने चार कोश ग्रन्थों की रचना की है। अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टु और देशी नाममाला। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत भाषा के कोश हैं और चौथा देशी शब्दों का संग्रह है। निघण्टु तो वनस्पतिशास्त्र का कोश है।

अभिधान चिन्तामणि :

संस्कृत के उपलब्ध समस्त जैन कोश साहित्य में अभिधान चिन्तामणि ही एक ऐसा कोश है, जिसमें जैनत्व पूर्णरूपेण सुरक्षित है। इसमें तीर्थंकरों के नाम, प्रत्येक तीर्थंकर के पर्यायवाची शब्द, तीर्थंकरों के माता-पिताओं के नाम, तीर्थंकरों के अतिशयों की नामावली, भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन चौबीसी, गणधरों के नाम, तीर्थंकरों के ध्वज-चिह्न, अन्तिम केवली, श्रुतकेवली, तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ तथा जैन आम्नाय द्वारा सम्मत देवगति, तिर्यंचगति के जीवों का वर्णन किया गया है। चतुर्थकाण्ड में पृथ्वीकायिक जीव पर्याय, अपकायिक जीव पर्याय, तेजकायिक जीव पर्याय, वायुकायिक जीव पर्याय और वनस्पतिकायिक जीव पर्याय का विस्तृत निरूपण किया है। द्वीन्द्रियजीवों की नामावली चार श्लोकों में दी गई है और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की नामावली भी पूरे विस्तार के साथ लगभग २० श्लोकों में वर्णित की गयी है। यहाँ उदाहरण के लिए दो इन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची शब्दों को उद्धृत किया जाता है।

नीलंगुः कृमिरन्तर्जः क्षुद्रकीटो बहिर्भव।
पुलकास्तुमये ऽपिस्युः कीकसाः कृमयो ऽणवः॥
काष्ठकीटो घुणः गण्डूपदः किंचुलकः कुसूः।
भूलता गण्डपदी तु शिली अस्त्रपा जलौकसः॥
जलालोका जलूका च जलौका जलसर्पिणी।
मुक्तास्फोटो ऽब्धिमंडूकी शुक्तिः कम्बुस्तुवारिजः॥
त्रिरेखः षोडशावर्तः शंखः अत्र क्षुद्रकम्बवः।
शंखनकाः क्षुल्लकाश्च शम्बूकास्त्वम्बुमात्रजाः॥

कृमि, नीलंगु, क्षुद्रकीट, पुलक, अणुकृमि, कीकस, काष्ठकीट, घुण, गण्डूपद, किंचुलक, कुसू, भूलता, गण्डूपदी, शिली, अस्त्रपा, जलौकस, जलालोक, जलूक, जलौक, जलसर्पी, मुक्तस्फोट, अब्धिमंडूकी, शुक्ति, कम्बु, शंख, वारिज, त्रिरेखा, षोडशावर्त, क्षुद्रकम्बव, शंखनक, क्षुल्लक, शम्बूक, कपर्द, हिरण्य, पणास्थिक, वराणट, दुर्नाम और दीर्घकोश ये द्वीन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची हैं।

ऊहापोह करने पर प्रतीत होगा कि इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों का कथन किसी भी कोश में नहीं किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की यह अत्यन्त मौलिकता है कि इन्होंने भूमिकाण्ड में त्रस और स्थावरों के पर्यायवाची शब्दों का इतने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। संस्कृत भाषा के किसी भी कोश में इतने पर्यायवाची शब्दों का समावेश नहीं मिलेगा। [क्रमशः

जैनधर्म व अहिंसा

पूरणचन्द सामसुखा

मनुष्य जब आध्यात्मिक विकास के लिए अग्रसर होता है, तब उसका मन धीरे-धीरे अपने छोटे स्वार्थों से हटकर वृहत्तर परार्थ की ओर विस्तृत होता जाता है। उसका मन दूसरे प्राणियों के साथ अपनी तुलना करने लगता है—वह सोचता है कि जिन सब कारणों से मुझे दुःख प्राप्त होता है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी उन्हीं कारणों से दुःख की प्राप्ति निश्चय ही होती होगी; मेरी तरह अन्य प्राणियों को भी दुःख से दूर व सुख पाने की इच्छा रहती होगी तथा दूसरे प्राणियों में भी मेरे ही जैसी सुख व दुःख अनुभव करने की शक्ति निश्चय ही होगी। इसप्रकार की विचारधारा से अन्य प्राणियों के प्रति समवेदना व समता का भाव उत्पन्न होता है। दूसरे प्राणियों की हिंसा करने से उन्हें हमारी ही भाँति कष्ट व वेदना का अनुभव होता है। अतएव दूसरे प्राणियों की हिंसा करना उचित नहीं है। इसप्रकार की विचारधारा के विकास से अहिंसात्मक भावना की उत्पत्ति होती है।

जैनधर्म के प्रतिष्ठापकगण व प्रचारकगण ने समस्त प्राणियों को अपने स्वरूप मानकर उनके प्रति हिंसात्मक कार्य न करने का उपदेश दिया है। ऐसे तो सब धर्मों में ही प्राणी हिंसा का निषेध है परन्तु जैन मात्र प्राणी हिंसा का निषेध करके ही सन्तुष्ट नहीं रहे, परन्तु उन्होंने अहिंसा को अपना परम धर्म माना है। भगवान महावीर कह गए हैं:

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् अहिंसा, संयम व तपस्या रूप धर्म ही परम कल्याणकारी है। जो ऐसा धर्म पालन करते हैं उन्हें देवगण भी नमस्कार करते हैं।

वैदिक धर्म के अनुसार जब यज्ञ में पशुवध होता था तब जैन ऋषि यज्ञ-स्थल में जाकर प्राणी हिंसा का प्रतिवाद करते तथा अपने युक्तिसंगत वचनों द्वारा ब्राह्मणों को अपने विचारों से सहमत करा लेते थे, ऐसे दृष्टान्त जैन साहित्य में कम नहीं हैं। यज्ञानुष्ठान की कमी तथा यज्ञ में पशुवध विलोप में जैन अहिंसावाद का प्रभाव नहीं है ऐसा कहा नहीं जा सकता।

जैन संघ में साधु व श्रावक के दो प्रधान विभाग हैं। इन दोनों विभागों

के व्यक्तियों के आचार अहिंसा के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। अहिंसा ही उनलोगों के आचरणों की नींव है। दूसरे नियम भी अहिंसा के ही परिपूरक हैं।

भगवान महावीर ने साधुओं को प्रथम उपदेश यही दिया है—"इस जगत में जितने प्राणी हैं व उनका स्वरुप क्या है यह जान लो और तुम्हारे प्रत्येक आचरण से इन प्राणियों की—चाहे वे कितने ही छोटे व निम्नस्तर के क्यों न हों, किसी प्रकार की हिंसा न हो इसके लिए सदा सतर्क रहो। हिंसा करने का अर्थ प्राणियों का वध करना मात्र ही नहीं है बल्कि उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक दुःख देना भी अहिंसा ही है।" वे कह गए हैं—"जिसको तुम प्रहार करने की इच्छा करते हो, जिसको परिताप देने की इच्छा करते हो, जिसको दुःख देने की इच्छा रखते हो या जिसका वध करना चाहते हो वह स्वयं तुम ही हो। अर्थात् वह प्राणी भी तुम्हारे प्रकार ही प्राण धारण करता है तथा तुम्हारे प्रकार ही सुख दुःख का अनुभव करता है—ऐसा जानकर सरल व प्रतिबोध प्राप्त मनुष्य किसी प्राणीकी भी हिंसा न करे।" हिंसा का यह ही महान् आदर्श है। प्रत्येक प्राणी को अपनी तरह समझकर व उसके सुख दुःख को अपना सुख दुःख मानकर हिंसा से विरत होना चाहिये। भगवान महावीर बोल गए हैं—

एवं खु नानिणो सारं जन्न हिंसई किंचन।
अहिंसा समयंचेव एतावंतं वियानिया॥

अर्थात् ज्ञानीपुरुष के ज्ञान का सार इतना ही है कि किसी की हिंसा न करना। समस्त प्राणियों के प्रति समता भाव का अवलम्बन करना, समस्त जीवों को अपने समान समझना ही अहिंसा है—यह जानो।

किसी प्रकार की पीड़ा होने से हम जैसी वेदना का अनुभव करते हैं उसी प्रकार दूसरे समस्त प्राणी भी वैसी ही पीड़ा अनुभव करते हैं। यह विचार जब हृदय में पूर्ण रूप से जम जायगा तभी दूसरे प्राणियों को कष्ट देने में स्वयं को कष्ट होगा और तब हम यथार्थ अहिंसक हो सकेंगे। परन्तु मात्र हिंसा से विरत होने से ही हम यथार्थ अहिंसक नहीं हो सकते। यथार्थ अहिंसक तो उसी मनुष्य को कहा जा सकता है जो कि कभी स्वयं हिंसा न करे न दूसरों से करवाये और कभी भी हिंसात्मक कार्यों का अनुमोदन न करे। सच्चा अहिंसक मन से व काया से, किसी प्रकार की हिंसा स्वयं नहीं करेगा व दूसरों से कभी नहीं करायेगा तथा हिंसात्मक कार्यों का अनुमोदन भी नहीं करेगा अर्थात् संपूर्ण रूप से अहिंसा धर्म का पालन करेगा। अहिंसा का इस प्रकार का व्यापक आदर्श लेकर जैन ऋषियों ने अहिंसा धर्म का प्रचार किया है।

प्रश्न उठ सकता है कि जब जल, स्थल व आकाश असंख्य छोटे प्राणियों से व्याप्त है तब इस संसार में पूर्णरूप से अहिंसक होकर रहना कैसे सम्भव है ? ऐसे करोड़ों सूक्ष्म-प्राणी हैं जो नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। हमलोगों के प्रत्येक कार्य में तनिक भी शरीर हिलाने के साथ ही साथ सैकड़ों सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है तथा जो इन्द्रियग्राह्य प्राणी भी हैं वे भी दृष्टिगोचर होने के पूर्व ही कुचले जा सकते हैं। अतएव हिंसा की व्याख्या क्या है यह प्रथम जानना आवश्यक है। इस प्रश्न के उत्तर में जैन शास्त्रकार कहते हैं :

प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा।

अर्थात् प्रमादयुक्त अवस्था में प्राणवध करने को हिंसा कहते हैं। प्रमाद शब्द का अर्थ राग, द्वेष, असावधानता इत्यादि से है। इससे यह अर्थ निकलता है कि जो प्राणीवध रागद्वेष एवं असावधानी के कारण हो वह हिंसा कहलायेगी। प्राणीवध में प्राणी को किसी प्रकार का दुःख देना या उस पर कोई निर्यातन करना भी सम्मिलित है। अतएव रागद्वेष से प्रेरित होकर या अपने कर्त्तव्यों से असावधान होकर किसी प्रकार की प्राणहानि हो तो वह हिंसा कहलायेगी। हिंसक का भाव अगर दूषित हो तो वह हिंसा है। परन्तु भाव अगर शुद्ध व सत्य हो तो वह कार्य सदोष हिंसा कोटि के अन्तर्गत नहीं कहलाएगा। जैन शास्त्रकार यह भी कहते हैं अगर दूषित भाव से प्रेरित न होकर और संपूर्ण सावधान रहकर भी यदि कोई प्राणी-हिंसा हो जाय तो वह हिंसा केवल द्रव्य हिंसा मात्र कहलायेगी एवं ऐसी हिंसा विशेष दूषनीय नहीं है। किन्तु यदि हिंसक का भाव दूषित रहे व कारणवश प्राणी का वध न भी हो तब भी वह हिंसा कही जाएगी। ऐसी हिंसा को भाव हिंसा या निश्चय हिंसा कहते हैं और यह अत्यन्त ही दूषनीय है। इससे यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि मानसिक अवस्था के ऊपर हिंसा व अहिंसा की संज्ञा निर्भर करती है। कोई व्यक्ति यदि दूषित भावना से, दूसरे प्राणी का वध करने के उद्देश्य से अस्त्र का प्रयोग करे और भाग्यवश वह आक्रान्त प्राणी आघात न लगने से बच जाय फिर भी आक्रमणकारी को अपने असत् भाव के कारण हिंसा के घोर पाप का भागी होना पड़ेगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी के उपकार करने के निमित्त कोई कार्य करे और किसी कारण से वह उपकार का कार्य उपकारी की ओर से, किसी प्रकार की हानि न करने का उद्देश्य रहने पर भी, कोई अनिष्ट दूसरे प्राणी को हो जाय तब भी उपकारक व्यक्ति का उद्देश्य शुद्ध रहने के कारण वह भाव हिंसा के घोर पाप से बच जायेगा। प्रत्येक मनुष्य को

अपने प्रत्येक कार्यों में सदा सावधान रहना चाहिए नहीं तो उसके असावधानता के कारण उसका हरेक कार्य दोषपूर्ण होगा और अपने को भाव हिंसा के घोर पाप से बचा न सकेगा। इस प्रकार हिंसा व अहिंसा का शुद्ध विचार करके जैन साधुओं के आचरण का नियम प्रस्तुत किया गया है। इन सब नियमों के अनुसार आचरण न करने से भाव हिंसा के पाप का भागी होना पड़ता है।

पूर्ण अहिंसक होने के लिए मात्र प्राणीवध से निवृत्त होने से नहीं होगा परन्तु उसके साथ ही साथ मिथ्या, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह का त्याग करना पड़ेगा। मिथ्या वाक्य बोलने से या मिथ्या आचरण करने से प्रथमतः स्वयं अपनी ही हिंसा होती है और जिसके विरुद्ध मिथ्या व्यवहार किया जाता है उसकी भी हिंसा होती है। इसी प्रकार चोरी करने से अपनी आत्मा की व जिसकी चोरी हो जाती है उसकी, दोनों की हिंसा होती है। ब्रह्मचर्य नहीं पालन करने से स्व-पर की हिंसा होती है। परिग्रह अर्थात् धनधान्य आदि सर्वप्रकार की सम्पत्ति रखने से अपनी आत्मा की तथा दूसरे की हिंसा होती है। इन सब कारणों से सम्पूर्ण अहिंसा पालन करने वालों को हिंसा के साथ-साथ मिथ्या, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह का भी त्याग करना होगा। सरल व आडम्बर शून्य जीवन व मानसिक उच्चभावना ही जैनधर्म का आदर्श है।

यदि कोई व्यक्ति निर्भय होना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम दूसरों को भी उसकी ओर से निर्भय बनाना पड़ेगा। अहिंसा का आचरण तथा व्यवहार इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कि मनुष्य से लेकर छोटे-से-छोटे प्राणी तक कोई भी जीव को उसकी तरफ से भय की आशंका नहीं रहे और तभी वह स्वयं निर्भय हो सकेगा। किसी ओर से भी उसको भय की आशंका नहीं रहेगी।

अहिंसक को सदा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ भावनाओं से चित्त को निर्मल रखना चाहिए। समस्त प्राणियों के प्रति प्रीति की भावना को मैत्री कहते हैं।

मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणई।

अर्थात् समस्त प्राणियों के साथ मेरा मैत्री-भाव है; किसी के साथ वैर-भाव नहीं है। इसी प्रकार की भावनाओं से मन को सुवासित रखना चाहिए। किसी व्यक्ति की उन्नति देखकर उसके प्रति थोड़ी भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए; उसे अपने से अधिक गुणवान् समझकर उसका आदर सत्कार करना

चाहिए—इसे प्रमोद भावना कहते हैं। दुःख तथा कष्ट से पीड़ित प्राणियों के प्रति सदा दया भाव रखनी चाहिए एवं उसकी यथासाध्य सहायता करने की चेष्टा करनी चाहिए—इसको कारुण्य भावना कहते हैं। जिसके हृदय में करुणा नहीं है उसे अहिंसक नहीं कहा जा सकता। हिंसक प्रवृति युक्त मनुष्य को संशोधन करने की चेष्टा करके भी यदि उसमें सफलता न मिले या वह संशोधन के अयोग्य समझा जाय तब उसके प्रति किसी प्रकार का वैर, घृणा आदि भाव पोषण न करके उसके प्रति मात्र उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखना चाहिए। इस प्रकार की भावना को माध्यस्थ भावना कहते हैं। अहिंसक को ऐसी मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ भावनाओं का अवलम्बन करके अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिए। इन सब निर्मल भावनाओं से अहिंसा का पोषण होता है। इन सब उच्च भावनाओं का विकास तथा तदनुसार आचरण करना ही जैन धर्म का अहिंसावाद या पूर्ण अहिंसा कहा जाता है।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

अमर भारती || नवम्बर १६८१

उपाध्याय श्री अमरमुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'नरक का प्रश्न' (सौभाग्यमल जैन), 'परमार्थ से अर्थ की ओर' (चाँदमल बाबेल), 'धम्मोमंगलमुक्किट्ठं' (कृष्णदत्त भट्ट)।

कुशल-निर्देश || नवम्बर १६८१

इस अंक में है 'योग-निष्ठ बुद्धिसागरसूरिजी की अनुकरणीय गुण ग्राहकता' (अगरचन्द नाहटा), 'मानवता के उन्नायक भगवान महावीर, उनका परिनिर्वाण और दीपोत्सव' (मुनि श्री चन्द्रप्रभ सागर), 'महाकवि धनपाल' (मूल गु० पं० धीरजलाल शाह, अनु० भँवरलाल नाहटा)।

जय गुञ्जार || नवम्बर १६८१

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'भारतीय परमाणुवाद एवं जैन दृष्टि' (डा० श्याम सुन्दर निगम), 'भारी और हलका : शरीर और आत्मा' (लक्ष्मीचन्द्र सरोज), 'जैन धर्म बनाम विश्व धर्म' (जीवनलाल शास्त्री)।

तीर्थंकर || नवम्बर १६८१

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन धर्म एक सम्प्रदायातीत धर्म' (डा० निजामुद्दीन), 'मानव किस ओर ?' (कन्हैयालाल सरावगी), 'समण सुत्तं—चयनिका' (डा० कमलचन्द सोगानी)।

तुलसी प्रज्ञा || अक्टूबर-नवम्बर १६८१

आचार्य श्री तुलसी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'श्री मज्जयाचार्य दिल्ली में' (सोहनराज कोठारी), 'सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ? जैन दर्शन के संदर्भ में' (डा० सागरमल जैन), 'आयारो : हिन्दी पद्यानुवाद' (मुनि श्री मांगीलाल 'मुकुल'), 'स्ट्रासबुर्ग विद्वत् सम्मेलन' (डा० नथमल टाँटिया), 'Jain Poet Rajavallabha and His Work—Bhoj-caritra' (Dr. Anand Mangal Vajpayi), 'Antiquities of Jain Ramayanas and Yati Kesavadasa's Ramcaritra' (Vinod Kothari), 'Jaina Technical Terms' (Dr. Mohanlal Mehta).

जैन भवन प्रकाशन

हिन्दी

१. अतिमुक्त (२य संस्करण)—श्री गणेश ललवानी
अनु : श्रीमती राजकुमारी बेगानी ८.००

२. श्रमण संस्कृति की कविता—श्री गणेश ललवानी
अनु : श्रीमती राजकुमारी बेगानी ३.००

३. चिदानन्द ग्रन्थावली—श्री केशरीचन्द धूपिया ५.००

४. भगवान महावीर (एलवम्) १०.००

বাংলা

১. সাতটী জৈন তীর্থ —শ্রীগণেশ লালওয়ানী ৩.০০
২. অতিমুক্ত —শ্রীগণেশ লালওয়ানী ৪.০০
৩. শ্রমণ সংস্কৃতির কবিতা —শ্রীগণেশ লালওয়ানী ৩.০০
৪. ভগবান মহাবীর ও জৈন ধর্ম —শ্রীপূরণচাঁদ শ্যামসুখা ২.০০

English

1. **Bhagavati Sutra (Text with English Translation)**
—Sri K. C. Lalwani

Vol. I (Satak 1-2)	40.00
Vol. II (Satak 3-6)	40.00
Vol. III (Satak 7-8)	50.00

2. **The Temples of Satrunjaya**
—James Burgess 50.00

3. **Essence of Jainism**—Sri P. C. Samsukha
tr. by Sri Ganesh Lalwani 1.50

4. **Thus Sayeth Our Lord**—Sri Ganesh Lalwani 1.50

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट : कलकत्ता-७००००७

Vol. V No. 8 : Titthayara : December 1981
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture
for
Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD
CALCUTTA-700001